HIN3B18b

सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला" (१८९८/९-१९६१)

१ - ८ परिमल **जुही की कली**

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी --
स्नेह-स्वप्न-मग्न-अमल-कोमल-तनु, तरुणी
जुही की कली,
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में ।
वासन्ती निशा थी,
विरह-विधुर प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल ।

आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन

उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुंज-लता-पुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली-साथ !

सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल ।
इस पर भी जागी नहीं,
चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही --
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये,
कौन कहे ?

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की,
कि झोकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिए गोरे कपोल गोल,
चौंक पड़ी युवती,

चकित चितवन निज चारों ओर फेरा,
हेर प्यारे को सेज-पास,
नम्रमुखी हँसी-खिली,
खेल रंग प्यारे संग ।

२ - < अनामिका **उत्साह**

बादल, गरजो !
घेर घेर घोर गगन, धाराधर ओ !
ललित ललित, काले घुँघराले,
बाल कल्पना के-से पाले,
विद्युत-छबि उर में, कवि, नवजीवन वाले !
वज्र छिपा, नूतन कविता
फिर भर दो –
बादल, गरजो !
विकल विकल, उन्मन थे उन्मन
विश्व के निदाघ के सकल जन,
आए अज्ञात दिशा से अनंत के घन !
तप्त धरा, जल से फिर
शीतल कर दो –
बादल, गरजो !

३ - < परिमल / राग-विराग **ध्वनि**

अभी-अभी ही तो आया है
मेरे वन में मृदुल वसन्त-
अभी न होगा मेरा अन्त

हरे-हरे ये पात,
डालियाँ, कलियाँ कोमल गात !

मैं ही अपना स्वप्न-मृदुल-कर
फेरूँगा निद्रित कलियों पर
जगा एक प्रत्यूष मनोहर

पुष्प-पुष्प से तन्द्रालस लालसा खींच लूँगा मैं,
अपने नवजीवन का अमृत सहर्ष सींच दूँगा मैं,

द्वार दिखा दूँगा फिर उनको
है मेरे वे जहाँ अनन्त-
अभी न होगा मेरा अन्त ।

मेरे जीवन का यह है जब प्रथम चरण,
इसमें कहाँ मृत्यु ?
है जीवन ही जीवन
अभी पड़ा है आगे सारा यौवन
स्वर्ण-किरण कल्लोलों पर बहता रे, बालक-मन,

मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बन्धु, दिगन्त ;
अभी न होगा मेरा अन्त ।

४ - **नर-जीवन के स्वार्थ सकल**

नर-जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ,
मेरे श्रम-संचित सब फल ।
जीवन के रथ पर चढ़कर,
सदा मृत्यु-पथ पर बढ़कर,
महाकाल के खरतर शर सह
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर ;
जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रुजल-धौत विमल,
दृग-जल से पा बल, बलि कर दूँ
जननि, जन्म-श्रम-संचित फल !
बाधाएँ आएँ तन पर,
देखूँ, तुझे नयन-मन भर,
मुझे देख तू सजल दृगों से
अपलक, उर के शतदल पर ;
क्लेदयुक्त अपना तन दूँगा,
मुक्त करूँगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि
सकल श्रेय-श्रम संचित फल ।

५ - < राग-विराग **तोड़ती पत्थर**

वह तोड़ती पत्थर,
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर --
वह तोड़ती पत्थर ।

नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार ;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार --
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार ।

चढ़ रही थी धूप,
गर्मियों के दिन,
दिवा का तमतमाता रूप,
उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगी छा गई,
प्रायः हुई दुपहर --
वह तोड़ती पत्थर ।

देखते-देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्न-तार ;
देख कर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार ।
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार ।
एक छन के बाद वह काँपी सुघर
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा --
"मैं तोड़ती पत्थर ।"

६ - **भिक्षुक**

वह आता --
दो टुक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता ।

पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी-भर दाने को -- भूख मिटाने को
मुँहफटी-पुरानी झोली को फैलाता --
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता ।

साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए ।
भूख से सूख होठ जब जाते
दाता-भाग्यविधाता से क्या पाते ? --
घूँट आसुओं के पीकर रह जाते ।

चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए ।
ठहरो, अहो मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम,
तुम्हारे दुख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा ।

७ - < अणिमा मैं अकेला

मैं अकेला
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सांध्य बेला ।
पके आधे बाल मेरे
हुए निष्प्रभ साल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती आ रही,
हट रहा मेला ।
जानता हूँ , नदी झरने
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख,
कोई नहीं भेला ।

८ - गीत गाने दो मुझे तो,
वेदना को रोकने को।

चोट खाकर राह चलते
होश के भी होश छूटे,

हाथ जो पाथेय थे, ठग-
ठाकुरों ने रात लूटे,
कंठ रूकता जा रहा है,
आ रहा है काल देखो ।

भर गया है ज़हर से
संसार जैसे हार खाकर,
देखते हैं लोग लोगों को,
सही परिचय न पाकर,
बुझ गई है लौ पृथा की,
जल उठो फिर सींचने को ।

९ - गर्म पकौड़ी

गर्म पकौड़ी-
ऐ गर्म पकौड़ी,
तेल की भुनी
नमक मिर्च की मिली,
ऐ गर्म पकौड़ी !
मेरी जीभ जल गयी
सिसकियां निकल रहीं,
लार की बूंदें कितनी टपकीं,
पर दाढ़ तले दबा ही रक्खा मैंने

कंजूस ने ज्यों कौड़ी,
पहले तूने मुझ को खींचा,
दिल ले कर फिर कपड़े-सा फींचा,
अरी, तेरे लिए छोड़ी

बम्हन की पकाई
मैंने घी की कचौड़ी ।